जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में

— डॉ० सागरमल जैन

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही भगवान महावीर का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की कामासक्ति या भोगासक्ति है।[1] यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की कामासक्ति या तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है किन्तु यह अग्नि में डाले गये घृत के समान उसे परिशान्त करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत ही स्पष्टरूप से कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलास के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जायें किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में असमर्थ हैं।[2] न केवल जैन धर्म अपितु सभी आध्यात्मिक धर्मों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है किन्तु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है किन्तु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है। जैन आगमों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।[3] यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है ?

किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा क्या तात्पर्य है ? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्म से है अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिए 'अज्झत्तं'[4] शब्द का प्रयोग है जो आन्तरिक पवित्रता या आन्तरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है जो यह बताती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी है और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मान कर आत्मा को परम-मूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है। उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य है। भौतिकवादी सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और

१ उत्तराध्ययन, ३२/६।
२ वही, ९/४८।
३ वही।
४ आचारांग, ५/३६, ५/२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराईयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैन दर्शन के अनुसार सुख-दुःख आत्मकृत हैं।[५] अतः वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि 'आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है, सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्‌गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है।'[६] आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रन्थ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'ज्ञान और दर्शन से युक्त शाश्वत आत्म-तत्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिए वे मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्य उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख-परम्परा को प्राप्त होता है अतः उन सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए।'[७] संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग ही साधना का मूल उत्स है। वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहाँ भौतिकवाद में पदार्थ ही परम मूल्य बन जाता है। अध्यात्मवाद में आत्मा ही परम मूल्य होता है। जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिए पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (equanimity) का सर्जन होता है।

जैन अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि :

जैनधर्म में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोपलब्धि का एकमात्र उपाय इसलिए माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्व बुद्धि या आसक्ति भाव रहता है तब तक व्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं अपितु 'पर' अर्थात् पदार्थ में केन्द्रित रहती है। वह 'पर' में स्थित होता है। यह पदार्थ केन्द्रित दृष्टि ही या 'पर' में स्थित होना ही भौतिक-वाद का मूल आधार है। जैन दार्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात् आत्मेतर वस्तुओं में अपनत्व का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। आत्मवादी या अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ-केन्द्रित न होकर आत्म-केन्द्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है और स्वस्वरूप या स्वभावदशा की उपलब्धि को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है। इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक् दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्यादृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्‌दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य :

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है कि जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप क्या है? आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।'[८] इस प्रकार ज्ञाताभाव में स्थित होना ही स्व-स्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक। उसमें भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ताभाव और कर्त्ताभाव के सूचक हैं। जब तक आत्मा कर्त्ता (doer) या भोक्ता (enjoyer) होता है तब तक वह स्व-स्वरूप को उपलब्ध नहीं करता है क्योंकि यहां चित्त विकल्प या आकांक्षा बनी रहती है। अतः उनके द्वारा चित्त-समाधि या आत्मो-पलब्धि संभव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षी भाव भी ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थित कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप लक्षण समत्व (equanimity) भी बताया गया है।

५ उत्तराध्ययन, २०/३७।

६ वही।

७ आतुर प्रकरण, २६, २७।

८ आचारांग, ५/१०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवतीसूत्र में गौतम ने महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित किये—आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है? महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे वे जैन धर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि 'आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना यही आत्मा का साध्य है।'[९] आचारांगसूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है।[१०] वहां समता को धर्म इसलिए कहा गया है कि वह हमारा स्व-स्वभाव है और वस्तु स्वभाव ही धर्म है—वत्थु सहावो धम्मो। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मूल स्वभाव और स्वलक्षण है वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य और निरपवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। आत्मा का स्व-स्वरूप और आत्मा का साध्य दोनों ही समता है। यह बात जीव-विज्ञान की दृष्टि से भी सत्य सिद्ध होती है। आधुनिक जीव-विज्ञान में भी समत्व के संस्थापन को जीवन का लक्षण बताया गया है। यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि 'संघर्ष ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है।' किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव ही निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा में नहीं रहना चाहती। वह संघर्ष का निराकरण करना ही चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है किन्तु वह मनुष्य के विभाव का इतिहास है स्वभाव का नहीं। चैतसिक जीवन में तनाव या विचलन पाये जाते हैं किन्तु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यही है कि वह बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर समत्व को बनाये रखने का प्रयास करता है। अतः जैनधर्म में समता को आत्मा या चेतना का स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सत्य है कि जैनधर्म में धर्म-साधना का मूलभूत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असन्तुलनों और तनावों को समाप्त कर अनासक्त और निराकुल वीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्ति या ममत्व बुद्धि का लक्ष्य राग और द्वेष के भाव उत्पन्न कर व्यक्ति को पदार्थापेक्षी बनाना है। आसक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है। जबकि अनासक्ति या वीतरागता व्यक्ति को 'स्व' में केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में जैनधर्म में वीतरागता की उपलब्धि को भी जीवन का परम लक्ष्य घोषित किया गया है। क्योंकि वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थित रह सकता है। जो चेतना समभाव या साक्षी भाव में स्थित रह सकती है वही निराकुल दशा को प्राप्त होती है और जो निराकुल दशा को प्राप्त होती है वही शाश्वत सुखों का आस्वाद करती है। जैनधर्म में आत्मोपलब्धि या स्वरूप उपलब्धि को जो जीवन का लक्ष्य माना गया है वह वस्तुतः वीतराग दशा में ही सम्भव है और इसीलिए प्रकारान्तर से वीतरागता को ही जीवन का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समभाव या साक्षीभाव है। यही समभाव हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसे प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है।

साध्य और साधना मार्ग का आत्मा से अभेद :

जैनधर्म में साधक, साध्य और साधनामार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गये हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधना मार्ग है। अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जब तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है वह संसार है किन्तु, जब वह इन्हें अपने वशीभूत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता

९ भगवती।

१० आचारांग, ८/३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[११] आचार्य अमृतचन्द्रसूरि समयसार की टीका में लिखते हैं कि 'पर द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।'[१२] आचार्य हेमचन्द्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि 'कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उनको विजित करनेवाली आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा जाता है।'[१३] वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बन्धन है और वासनाओं और विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष है। जैन अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर है। धर्म साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। हमारी मूलभूत क्षमतायें साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही है। साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वह वृक्ष रूप में विकसित होकर अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है वैसे ही आत्मा भी परमात्म दशा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार अपनी ही बीजरूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्रकट करना ही मुक्ति है। जैन साधना 'स्व' के द्वारा 'स्व' को उपलब्ध करना है। निज में प्रसुप्त जिनत्व को अभिव्यक्त करना है। आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पूर्ण बनाना है। इस प्रकार आत्मा का साध्य आत्मा ही है।

जैनधर्म का साधना मार्ग भी आत्मा से भिन्न नहीं है। हमारी चेतना के ही ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधनामार्ग बन जाते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को, जो मोक्ष मार्ग कहा गया है, उसका मूल हार्द इतना ही है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष क्रमशः सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के रूप में साधनामार्ग बन जाते हैं।

इस प्रकार साधनामार्ग भी आत्मा ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करनी चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति (अनुचरितव्यश्च) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग सब अपने आपको पाने के साधन हैं। क्योंकि यहाँ आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है।'[१४] व्यवहार नय से जिन्हें ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है, वे निश्चय नय से तो आत्मा ही हैं।

त्रिविध साधनामार्ग :

जैनदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधनामार्ग बताया गया है। तत्वार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है।[१५] उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है,[१६] किन्तु जैन अचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में करके इस त्रिविध साधना मार्ग को ही मान्य किया है।

सम्भवतः यह प्रश्न हो सकता है कि त्रिविध साधनामार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध

११ अध्यात्मतत्वालोक।
१२ समयसार टीका।
१३ योगशास्त्र।
१४ समयसार।
१५ तत्त्वार्थ सूत्र, १/१।
१६ उत्तराध्ययन, २८/२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधनामार्ग के विधान में जैनाचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं—१ ज्ञान, २ भाव और ३ संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिए ही त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकलपात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है।

जैन-दर्शन के समान ही बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान है। बौद्ध-दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग हैं—१ शील, २ समाधि और ३ प्रज्ञा।[१७]

हिन्दू धर्म के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी त्रिविध साधनामार्ग का ही एक रूप है। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधना मार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।[१८] इनमें प्रणिपात श्रद्धा का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो इनमें श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान के और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं—१ स्वयं को जानो (know thyself), २ स्वयं को स्वीकार करो (accept thyself) और ३ स्वयं ही बन जाओ (be thyself)।[१९] पाश्चात्य चिन्तन के तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्व उपस्थित है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	हिन्दू धर्म	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्यदर्शन
सम्यक् ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान	परिप्रश्न	मनन	know thyself
सम्यक् दर्शन	समाधि	भक्ति	प्रणिपात	श्रवण	accept thyself
सम्यक् चारित्र	शील	कर्म	सेवा	निदिध्यासन	be thyself

त्रिविध साधनामार्ग तथा मुक्ति :

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसे किसी एकान्तवादिता में नहीं गिरते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है।[२०] इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन का अर्थ :

जैन आगमों में दर्शन शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और इसके अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में

१७ सुत्तनिपात, २८/८।

१८ गीता, ४/३४।

१९ Psychology and Morals, p 32.

२० उत्तराध्ययन सूत्र, २८/३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध, प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है। दर्शन शब्द का दृष्टिकोण-परक अर्थ भी लिया गया है। प्राचीन जैनागमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। उत्तराध्ययन सूत्र तथा तत्त्वार्थसूत्र में दर्शन शब्द का अर्थ तत्वश्रद्धा भी माना गया है।[२१] परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द को देव गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन आत्म-साक्षात्कार, तत्व श्रद्धा, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है।

सम्यक् दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्वार्थ श्रद्धा उसमें वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है किन्तु दूसरा व्यक्ति ऐसे वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने उसे स्वानुभूति में पाया है तो दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। श्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ स्वानुभूति ही है और यही सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ है। ऐसा सम्यग्दर्शन होता है निर्विकार निराकुल चित्तवृत्ति से, अतः प्रकारान्तर से उसे भी सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

सम्यक् दर्शन के पाँच लक्षण :

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन के निम्न पाँच लक्षण बताये गये हैं—(१) सम अर्थात् समभाव, (२) संवेग अर्थात् आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति अथवा सत्या-भीप्सा, (३) निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य, (४) अनुकम्पा अर्थात् दूसरे व्यक्ति की पीड़ा को आत्मवत् पीड़ा समझना और उसके प्रति करुणा का भाव रखना और (५) आस्तिक्य अर्थात् पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना।

सम्यक् दर्शन के छः स्थान :

जिस प्रकार बौद्ध-साधना के अनुसार दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःखनिवृत्ति का मार्ग है इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यक् दृष्टि है, उसी प्रकार जैन-साधना के अनुसार षट् स्थानकों (छः बातों) की स्वीकृति सम्यक् दर्शन है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है, (४) आत्मा कृत-कर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है।[२२]

जैन तत्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर है; ये षट्स्थानक जैन-साधना के केन्द्र बिन्दु हैं।

सम्यक् ज्ञान का अर्थ :

दृष्टिकोण की विशुद्धि पर ही ज्ञान की सम्यक्त्वता निर्भर करती है। अतः जैन साधना का दूसरा चरण है सम्यग्ज्ञान। सम्यक्-ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन-सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाये जाते हैं। सामान्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान वस्तु तत्व का उसके अनन्त पहलुओं से युक्त ज्ञान है और इस रूप में वह विचार शुद्धि का माध्यम है। जैन-दर्शन के अनुसार एकांगी ज्ञान मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता सम्भव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी

२१ उत्तराध्ययन, २८/३५ ; तत्त्वार्थ सूत्र, १/२।
२२ आत्मसिद्धि, पृ० ४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असम्भव है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य के अनन्त पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यक्-ज्ञान की अनिवार्य शर्त है। एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित छद्म राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है। अतः एकान्त और आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक है। जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और इसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है वस्तु को उसके अनन्त पहलुओं से जानना।

जैनधर्म में एक अन्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता है, उसे ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता अतः आत्मज्ञान दुरूह है। लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? और दूसरे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के विषय हैं वे उसके स्वस्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं। सम्यक्-ज्ञान आत्मज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद-विज्ञान है और यही जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान का मूल अर्थ है।

इस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद-विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो 'कोई सिद्ध हुए हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं।'[२३] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद-विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है किन्तु विस्तारपूर्वक यह विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है।[२४]

सम्यक् चारित्र का अर्थ :

जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक् चारित्र है। इसके दो रूप माने गए हैं—(१) व्यवहार चारित्र और (२) निश्चय चारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहार चारित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चारित्र कही जाती है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मक चारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है।

निश्चय दृष्टि (real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक या चैतसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि ही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती है तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म-जाग्रत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चालित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र मुक्ति का सोपान कहा गया है।

व्यवहार चारित्र—व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध आचार के नियमों के परिपालन से है। व्यवहार चारित्र को देश-

[२३] समयसार टीका, १३२।

[२४] देखें० जैन बौद्ध और गीता का साधनामार्ग, अध्याय ५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रती चारित्र और सर्वव्रती चारित्र ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रती चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से और सर्वव्रती चारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन-परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षट्कर्म, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन आता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रिभोजन निषेध, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, बाईस परीषह, अट्ठाइस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, आवास सम्बन्धी विधि-निषेध है।

साधनत्रय का पूर्वापर सम्बन्ध :

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में कोई विवाद नहीं है। जैन आगमों में दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् चारित्र नहीं होता। भक्त परिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक रूप में भ्रष्ट हैं, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं हैं क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता है।[२५] कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता। वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण को सही दिशा निर्देश कर सकता है। आचार्य भद्रबाहु आचारांग निर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।[२६]

जहाँ तक ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध है जैन विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही स्थान दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बताया गया है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता। इस प्रकार जैन दर्शन में आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन हो सकता है। महावीर ने ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया है। सूत्रकृतांग में महावीर कहते हैं कि 'मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कृत्य कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।'[२७] उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। दुराचरण में अनुरक्त अपने आपको पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं। वे केवल वचनों से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।'[२८] आवश्यक निर्युक्ति में ज्ञान और आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि 'आचरण-विहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते।' ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता है या अकेला अंधा अथवा अकेला पंगु इच्छित साध्य को नहीं पहुंचता वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, अपितु दोनों के सहयोग से ही मुक्ति होती है।[२९]

जैन पर्व की आध्यात्मिक प्रकृति :

न केवल जैन साधना पद्धति की प्रकृति ही अध्यात्म-वादी है अपितु जैन पर्व भी मूलतः आध्यात्मवादी ही है। जैन पर्व आमोद-प्रमोद के लिए न होकर आत्म-साधना और तप-साधना के लिए होते हैं। उनमें मुख्यतः तप, त्याग, व्रत एवं उपवासों की प्रधानता होती है। जैनों के प्रसिद्ध पर्वों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण पर्व और दिगम्बर

२५ भक्तपरिज्ञा, ६५-६६।
२६ आचारांगनिर्युक्ति, २२१।
२७ सूत्रकृतांग, २/१/३।
२८ उत्तराध्ययन, ६/९-११।
२९ आवश्यकनिर्युक्ति, ९५-९७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा में दश लक्षण पर्व है जो भाद्रपद में मनाये जाते हैं। इन दिनों में जिन-प्रतिमाओं की पूजा, उपवास आदि व्रत तथा धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय यही साधकों की दिनचर्या के प्रमुख अंग होते हैं। इन पर्वों के दिनों में जहाँ दिगम्बर परम्परा में प्रतिदिन क्षमा, विनम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्मों (सद्गुणों) की विशिष्ट साधना की जाती है वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में इन दिनों में प्रतिक्रमण के रूप में आत्म-पर्यावलोचन किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा का अन्तिम दिन संवत्सरी पर्व के नाम से मनाया जाता है और इस दिन समग्र वर्ष के चारित्रिक स्खलन या असदाचरण और वैर-विरोध के लिए आत्म-पर्यावलोचन (प्रतिक्रमण) किया जाता है एवं प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इस दिन शत्रु-मित्र आदि सभी से क्षमा-याचना की जाती है। इस दिन जैन साधक का मुख्य उद्घोष होता है—'मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सभी प्राणी वर्ग से मेरी मित्रता है और किसी से कोई वैर-विरोध नहीं है।' इन पर्व दिनों में अहिंसा का पालन करना और करवाना भी एक प्रमुख कार्य होता है। प्राचीन काल में अनेक जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से शासकों द्वारा इन दिनों को अहिंसक दिनों के रूप में घोषित करवाया था। इस प्रमुख पर्व के अतिरिक्त अष्टान्हिका पर्व, श्रुत पंचमी तथा विभिन्न तीर्थंकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसों को भी पर्व के रूप में मनाया जाता है। इन दिनों में भी सामान्यतया व्रत रखा जाता है और जिन-प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजा की जाती है। दीपावली का पर्व भी भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में जैन समुदाय के द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण के प्रश्न :

यह सत्य है कि जैनधर्म संन्यास मार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्म शुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म में लोक मंगल या लोक कल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैनधर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है। १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्गदर्शन करते रहे। जैनधर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तब तक समाज नहीं सुधर सकता। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। लोक-सेवक और जन-सेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें यह जैन आचार-संहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं है। क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[३०] जैन साधना में अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के जो पांच व्रत माने गये हैं वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं हैं, वे सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्म-शुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी हैं।

[३०] प्रश्नव्याकरण, २/१/२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैनधर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के जो आदर्श स्थापित किये गये हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चित की गई है उसका आधार विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण और व्यक्ति-कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन् उसमें लोकहित या लोक कल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।[३१]

क्या जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है ?

जैनधर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है अतः यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनधर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिकी जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्यिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जावे। जैनधर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथ भाष्य में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है।[३२] शरीर शाश्वत् आनन्द के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्व भी है और उसकी सार-सम्भाल भी करनी है। किन्तु ध्यान रहे दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होना है, नौका साधन है साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर स्पष्ट करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियां या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य है, अन्तिम है, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन है। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधना के द्वारा वस्तुओं का ग्रहण, दोनों ही संयम (समत्व) की साधना के लिए है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहां तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियां उसमें साधक हो सकती हैं, वहां तक वे स्वीकार्य हैं, और जहां तक वे उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान् महावीर ने आचारांग एवं उत्तराध्ययन सूत्र में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि 'जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष का करना है,[३३] क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं।[३४] अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएँ :

(क) ईश्वर वाद से मुक्ति—जैन अध्यात्मवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय दासता से मुक्त कर मानवीय स्वतन्त्रता की

[३१] स्थानांग, १०।
[३२] निशीथभाष्य, ४७/६१।
[३३] आचारांग, २/१५।
[३४] उत्तराध्ययन, ३२/१०१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिष्ठा की है। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न कोई अन्य शक्ति ही मानव की निर्धारक है। मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। जैनधर्म ने किसी विश्वनियन्ता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्म-दशा को प्राप्त कर सकता है। उसने कहा 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। मनुष्य को किसी की कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही पुरुषार्थ के द्वारा परमात्म-पद को प्राप्त करना है।

(ख) मानव मात्र की समानता का उद्घोष—जैनधर्म की दूसरी विशेषता यह है कि उसने वर्णवाद, जातिवाद आदि उन सभी अवधारणाओं की जो मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करती है अस्वीकार किया। उसके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार न तो जाति विशेष या कुल विशेष में जन्म लेना है और न सत्ता और सम्पत्ति ही। वह वर्ण, रंग, जाति, सम्पत्ति और सत्ता के स्थान पर आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। उत्तराध्ययन सूत्र के १२ वें एवं २५ वें अध्याय में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण की श्रेष्ठता की अवधारणा पर करारी चोट करते हुए यह कहा गया है कि जो सर्वथा अनासक्त, मेधावी और सदाचारी है वही सच्चा ब्राह्मण है और वही श्रेष्ठ है न कि किसी कुल विशेष में जन्म लेनेवाला व्यक्ति।

(ग) यज्ञ आदि बाह्य क्रिया-काण्डों का आध्यात्मिक अर्थ—जैन परम्परा ने यज्ञ, तीर्थ-स्नान आदि धर्म के नाम पर किये जानेवाले बाह्य क्रियाकाण्डों की न केवल आलोचना की अपितु उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थ भी प्रदान किया। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। उसमें कहा गया है कि जीवात्मा अग्निकुण्ड है। मन, वचन, काया की प्रवृत्तियां ही कलछी (चम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है। यही यज्ञ शान्तिदायक है और ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।[३५] तीर्थ-स्नान को भी आध्यात्मिक-अर्थ प्रदान करते हुए कहा गया है कि धर्म जलाशय है। ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है; उसमें स्नान करने से ही आत्मा निर्मल और शुद्ध हो जाती है।[३६]

(घ) दान, दक्षिणा आदि के स्थान पर संयम की श्रेष्ठता—यद्यपि जैन परम्परा ने धर्म के चार अंगों में दान को स्थान दिया है किन्तु वह यह मानती है कि दान की अपेक्षा भी संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि प्रति मास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा संयम का पालन अधिक श्रेष्ठ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा ने धर्म को रूढ़िवादिता और कर्मकाण्डों से मुक्त करके आध्यात्मिकता से सम्पन्न बनाया है।

[३५] उत्तराध्ययन, १२/४४।
[३६] वही, १२/४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org